वीर सेवा मन्दिर

दिल्ली

★

जन्म—
भादों बदी [illegible]
मंगलवार
सं० १९[illegible]

मृत्यु—
कार्तिक बदी १५
बुद्धवार
सं० १९९७

रस-भरी

[चुनी हुई मौलिक, कहानियां]

लेखक



श्री 'भगवत्' जैन

प्रथमबार सन् १९४०

प्रकाशक

श्रीभगवत्-भवन

ऐत्मादपुर

(आगरा)

मूल्य तीन आने।

सजिल्द पांच आने

कहानियों की मांग है, क़द्र है! नित नई देखने पढ़ने में आती हैं। फिर मुझे अगर लिखने की सनक आती है तो उसे आप शौक़ के अलावा और क्या कहेंगे?

मुझे भी इससे इनकार नहीं है कि यह मेरी कहानियां मेरा शौक़ है। पहली चेष्टा के रूप है—यह छोटी-सी पुस्तिका! शौक़ भी इतना-सा ही है।

कला की दृष्टि से तो आप निराशा ही पाएंगे। हाँ, अगर मेरी मनोव्यथाओं का कुछ आभास इसमें आप पा सकें तो वह मेरी सफलता समझनी चाहिए।

अगर हिन्दी-संसार ने—सत्कार की मुझे आशा नहीं,—न ठुकराया तो ऐतिहासिक, पौराणिक कहानियों का बड़ा संग्रह हिन्दी-मंदिर में चढ़ाकर अपने को धन्य समझूंगा।

दीपावली सन् ४०] —'भगवत्' जैन

उसके आँसू

श्यामा ने बड़ी लगन के साथ शृंगार किया और छज्जेपर आ बैठी। उसे विश्वास-सा हो रहा था कि आज वह अपने सौन्दर्य-सुधा द्वारा अवश्य कुछ-न-कुछ उपार्जन करेगी।

पछिले दो दिन उसने बड़ी कठिनता-पूर्वक काटे हैं। वह नगर की एक दीन-हीन वेश्या है। न उसके पास उपयुक्त वस्त्राभूषण ही हैं, न रहने के लिए भड़कदार कोठा ही। फिर भी वह वेश्या है, और यों प्राकृतिक मिले

हुए सौन्दर्य के बलपर अपनी जीविका चला रही है।

शीत और अन्धकार-भरी रात है। वह अकेली छज्जे पर बैठी सुविस्तृत पथपर आने-जाने वाले व्यक्तियों पर अपनी लालसा, कटाक्ष और वेदनापूर्ण दृष्टि डाल रही है। हृदय में विद्रोह मच रहा है—अगर आज भी कुछ न प्राप्त हुआ तो ?

सहसा सामने के कोठे में संगीतभरी स्वर-लहरी प्रकम्पित हो उठती है। वह वेदना से विक्षुब्ध आहत मृगी-की तरह विवश नेत्रों से देखने-सुनने लगती है। छाती पर एक बोझ-सा- लदा है या धुआँ-सा भर रहा है, कुछ ठीक समझ में नहीं आ रहा।

आह, अगर वह उसकी जगह होती ?

मर्मान्तक पीड़ा से वह व्याकुल-सी, बेसुध-सी, कुछ भूली-सी ज्यों की त्यों रह जाती

है। जैसे जड़ हो, निर्जीव हो। बाज़ार में अब भी चहल-पहल है। विद्युत्प्रकाश में बाज़ार खेल रहा है। घोड़ा-गाड़ी, मोटर, साइकिल और पथिकों की पद-ध्वनि आदि के निनाद से अद्भुत संगीत का सृजन हो रहा है।

और श्यामा देख रही है—दो तरुणों में अपने अनुमान की सार्थकता। अपनी अनिश्चित आशा की सुनहरी धूप। वह, सामने की बन्द दूकान पर दोनों जम गये। जैसे थककर बैठ गये हों, सिगरेटें जलीं, धुएँ के बादल बनने शुरू हुए। एक कह रहा है—"यार, अगर किसी जान-पहचान वाले ने देख लिया तो? देख देख, दिल कैसा धड़क रहा है!"

और सच, इधर श्यामा का दिल भी धड़क उठा है। वह अपने अस्त्र-शस्त्र चलाने में मशगूल तो है, पर वह जो काम नहीं कर रहे, इसका क्या इलाज? नीचे रिहर्सल जारी

है, ऊपर अभिनय। वह उठकर खड़ी हुई। पावडर से सनी हुई मृणाल-सी बाहें टीन तक उँचाते हुए उसने एक लम्बी अँगड़ाई ली।

उधर हाथापाई शुरू हुई। पता नहीं दोनों में गहरी दोस्ती है, या सिर्फ 'हाहा-हीही' भर तक! दूसरे हेकड़ने जरा-सी एक धौल जमाते हुए कहा--'वाह रे जमामर्द! इसी बिरते पर धरती फाड़े डालता था? अरे, बढ़ तो सही!"

'टन्-टन्-टन्!'—नीचे की घड़ी की दूकान से आवाज़ आई। श्यामा का ध्यान बँटा। ओफ, ग्यारह बज गये। और उसे भूख लग रही है! क्या करे वह? अभी तक एक पैसे का मुह नहीं देखा, और खाने के लिए घर में एक दाना भी नहीं।

वह सर्दी के साथ मानो सत्याग्रह कर रही है तीर की तरह आनेवाली आग को दहका

रही है। वह शून्य-दृष्टि से हर एक आने-जाने वाले की ओर देखती है, मुस्कराती है, कटाक्ष छोड़ती है। पर······

उसके क्षीण-आलोक से आलोकित कोठे पर कौन आये ? दुनियां तो वैभव प्रिय है !

उसने देखा, सामने के कोठे से रुपयों के द्वन्द्व-युद्ध की आवाज़ आ रही है। खन्-खन्-खन् ! अरे, एक साथ थाल में कितने रुपये कूद रहे हैं।

क्या आज भी सचमुच कुछ न आयेगा ? और···! यह निराशाका असह्य-भार कौन उठाये ?

हाँ, ठहरो।

कोई सीढ़ियों पर चढ़ रहा है, ज़रूर चढ़ रहा है वह लपक कर कोठे में घुसी आशंका और उत्कंठा को लिये हुए। पर यह क्या ?—

धुत् !

कुत्ता घुस आया।

वह निराशा के अथाह सागर में डूब रही है। क्या उसे इसका भी सत्कार करना होगा? वह अपनी जगह पर आकर बैठ गई।

वह देखो, सामने के कोठे में वह फीलकाय सेठजी विराजमान हैं।

"किवाड़ बन्द कर दो।"—और तत्काल किवाड़ बन्द हो गये।

क्षण-भर बाद हँसी की तीव्र ध्वनि से सामने का कोठा भर गया।

देखते-देखते सारे कोठे बन्द हो गये। बाज़ार भी मानो परिश्रम के बाद शयन कर रहा हो, नीरवता यत्र-तत्र विचरण कर रही है।

पर श्यामा अब भी टकटकी लगाये आशा-निराशा के झूले में झूल रही है—उसके हृदय में खलबली मच रही है क्या नित्य यों ही भूखों मरना होगा?

मरी-सी आवाज में 'न' कहता हुआ वह बढ़ा तो, लेकिन सीढ़ियों की ओर नहीं, आगे रास्ते की तरफ़। श्यामा की आशा-धूप निराशा के बादलों में छिप गई। उसने आँखें तरेर कर आख़िरी बार उसकी ओर देखा। लिपिस्टिक से रँगे अधरों ने संक्षेप में अन्तर की बात प्रकट की—'पागल है!'

लम्बी दाढ़ी है। बाँस-सी दो पतली टाँगों पर बर्फ़ की गली हुई सिल्ली-सा धड़ है। ऊपर तीन नम्बर की फुटबॉल के ब्लाडर जैसा सिर। जिसमें रुई के गाले-सी दाढ़ी उग आई है। नीचे घुटने तक का चुगा है, गले में तावीज, आँखों पर मोटे शीशे का चश्मा। साथ में बच्चा है ताँबे के रंग का। सिर पर धूल-भरे बाल हैं, धड़ में फटी गंजी और नीचे एकदम घासलेट।

दोनों चले आ रहे हैं। बूढ़ा मुंह फाड़े

ताक़त के साथ अपनी चुंधी आँखें खोले कोठों की ओर देख रहा है, लालच-भरी नज़रों से। पैर किधर पड़ रहे हैं, इसका भी उसे ध्यान नहीं।

"ए, ए बुड्ढे! एक पैर कब्र में फँसा कर किधर देख रहा है? एक बाजू, एक बाजू, बुड्ढे!"

पर बुड्ढा सुनता है? श्यामा के मुंह पर एक हल्की-सी मुस्कराहट आई। ब-मुश्किल आधी सेकेण्ड के लिए मनोविनोद हुआ कि घबड़ाकर बच्चा चिल्लाया—"बाबा, बाबा! ताँगा!"

और बुड्ढे के सम्हलने के पहले ही ताँगे का अगला दण्डा दाढ़ी से जा अटका। बुड्ढा धड़ाम से गिरा। लोगों ने उठाया। ग़नीमत चोट नहीं आई। वह आगे बढ़ा। श्यामा ने उसका ध्यान छोड़ा। रात भींगती जा रही है,

भूल सुधार !

गलती से १३वाँ पृष्ठ १६वें पर छप गया है व १६वाँ १३वें पर । कृपया पाठक सुधार कर पढ़ें ।

चाहिए प्रभावशाली कवि-हृदय ! सो वह मेरे पास है नहीं ! मामला तय !

कभी सोचता हूँ--कहानी को प्रगतिशील बनाने के लिए असहयोग-आन्दोलन की किसी घटना को लिख मारूँ ! पर वैसा करना, जहाँ कहानी को नीरस बनायेगा, वहाँ कहानी को 'कहानी' न रखकर रिपोर्ट बना देगा ! इसलिए यह रास्ता भी बन्द !

गर्ज़ यह है सब तरफ़ मुश्किल ही मुश्किल ! ख़ैर ! कहानी तो लिखनी ही है ! लिखेंगे, चाहे मुश्किल मुश्किल रहे, चाहे मुश्किल आसान !

हाँ, तो मदन है !

आप पूछेंगे--'मदन कौन है ?'--तो इसका यही जवाब हो सकता है कि--'हम-तुम जैसा एक नौजवान ! जिसके सामने कोई ख़ास कार्य-क्रम तो नहीं है, लेकिन पीछे एक

साढ़े-बारह बजे रात को आशा फलीभूत हुई। शायद सिनेमा देखकर लौटे हैं, बड़े आदमी हैं! सैंकड़ों विचार फिल्म-चित्रों की तरह उसकी आँखों के आगे घूम गये।

"आइये,—तशरीफ़ रखिये!"—अपनी प्रसन्नता को दबाते हुए कहा। और फिर वह सहसा मंत्र-मुग्ध की तरह ज्यों-की-त्यों···

"सुधा! बहन सुधा! तुम यहाँ?"—नव-युवक ने आवेश में आकर रुँधे कण्ठ से कहा।

"भइया!!"

वह आँखों से, हृदय से, वाणी से, सारे शरीर से रो रही है।

आँसू!

चिर-संचित आँसू भाई के चमकदार बूट पर गिरकर बिखर रहे हैं।

नमस्ते

यह न पूछिये कि—'क्यों ?' बस, इतने ही में सन्तोष कर लीजिये कि मुझे एक कहानी लिखनी है ! लिखनी तो है लेकिन प्लाट जो नहीं बन रहा···! कहाँ से शुरू की जाय, यह सवाल सामने है !

सोचता हूँ–किसी तरुणी की भाव-भंगिमा का वर्णन कर रस-मन्दाकिनी का धारावाही प्रवाह प्रवाहित करूँ, कहानी अनायास आकर्षक और सरस बन जायेगी । लेकिन मुसीबत यह आकर पड़ती है कि इसके लिए

दुकानें बन्द होती जा रही हैं, सरदी बढ़ती जा रही है।

वह दिन—जब माता-पिता, भाई और 'वे' मौजूद थे ! फिर सुहाग पुछा, विधवा हुई, माता-पिता मरे और वह···!"

वह सोचते-सोचते अधीर हो उठी। अलक्षित भाव से उठ खड़ी हुई। कोठे में चहलक़दमी करने लगी अपने विचारों में उलझी हुई। फिर अपने ठिकाने पर आई।

नीचे सड़क पर ताँगा खड़ा था।

"यह लो पैसे।"

"क्या खड़ा रहूँ बाबू जी ?"—ताँगेवाले ने सविनय पूछा।

"नहीं।"

नवयुवक तेज़ी से श्यामा के कोठे की सीढ़ियों की ओर बढ़ा। वह .ख़ुशी के मारे पागल हो गई।

लम्बा-चौड़ा, परिवार जरूर है ! तबियत का मौजीला है ! सूरत शक्ल का भी कुछ बुरा नहीं है, देखने वाला 'भले मानस' के अलावा और कुछ कह ही नहीं सकता ! पढ़ने लिखने की भी चाट है, 'टैगोर-ग्रंथावलि' से लेकर 'उग्र-शैली' तक की पुस्तकें उसने पढ़ी हैं । रसीला मन पाया है--हफ्ते में एक बार सिनेमा देखने चला जाता है ! लेकिन अकेला ही ! साथ कौन जाये ?--किसी से दोस्ती ही नहीं ! जान पहिचान करने, मेल-जोल बढ़ाने से घबराता है, चुप ज्यादा रहता है, बोलता कम है ! यहाँ तक कि पाड़-पड़ोसी तक भी उससे अधिक परिचित नहीं ! और परिवार में से किसी को साथ ले जाना उसकी आदत के खिलाफ है !

उसकी इस साधु-प्रकृति पर घरके बड़े-बूढ़े नाराज हैं ! उनका कहना है--'क्या यह भी कोई जिन्दगी है ? न किसीसे दुआ' न सलाम !

न मिलना, न जुलना! बुत की तरह अपनी धुन में मस्त! अरे, अभी से यह हाल है तो आगे क्या कर लेगा! जिसे चार आदमी पूँछें, वह तो आदमी! यह क्या ?'

बात की सम्भरण-लीला यहीं पर नहीं है! रात को जब चित्तरसारी पर पहुँचता है, तब जो वेद की रिचायें उसे सुननी पड़ती हैं, वह लाजवाब होती हैं! अपने वीणा-विनिन्दित स्वर में श्रीमती जी फ़रमाती हैं--'ज़रूर माँ ने मुहर्रम के दिनों में जन्मा होगा! तभी तो यह बात है! नहीं, 'दिवा' का आदमी नहीं है, 'केला' का आदमी नहीं है, और चमेली का--'

श्रीमती जी अपने कोमल-कण्ठ को जब तकलीफ़ देने उतरती हैं, तब नफ़सेल करके ही छोड़ना उन्हें पसन्द आता है। लेकिन मदन पर उस वक्तृता का कितना और किस रूप में असर पड़ता है, इसको मेरे सिवा और कोई जानता है, इसे मैं नहीं मान सकता!

अब आप ब-खूबी समझ गये होंगे कि मदन मेरी कहानी का नायक है !

*　　　*　　　*

यानो--बात तो ठीक है ! मेल-मुहब्बत भी दुनियाँ में एक चीज़ है ! जीवन में बहुत से मौक़े ऐसे आते हैं, जब पैसा खर्च करने पर भी जो काम नहीं बनता, वह मेल-मुहब्बत से मिनटों में हो जाता है। हाँ, तो इसलिये हर किसी से 'नमस्ते' और जान-पहिचान करना, मेल-जोल बढ़ाना निहायत ज़रूरी है !

जैसे ही मदन इन विचारों को रोंथ कर पचा सका, कि एक निमन्त्रण-पत्र उसे मिला ! कुछ साहित्य-प्रेमियों ने कवि-सम्मेलन का आयोजन किया था ! बड़े-बड़े काव्य-महारथियों के पधारने की आशा थी !

मदन के लिए था यह स्वर्ण सुयोग ! उसे लगा जैसे मन की मुराद भयंकर रूप से उसे

अपनी ओर खींच रही हो ! वह ऐसे ही अवसर की ताक में था ! आखिर जाने पर फ़ैसला ठहरा ! महज़ इसलिए कि अधिक लोगों के सम्पर्क में आने-जाने से झिझक खुलेगी, प्रकृति परिवर्तन होगी; और बढ़ेगा दुनियावी मामलों का तजुर्बा !

मुझे उम्मीद है, आपने शायद देखा होगा कि नाम-की भूखी दयालुता के वश होकर कभी-कभी कोई बन्दरों को चार-छः पैसे के चने डलवा देते हैं। तब उस समय उपस्थित बन्दर-मण्डली में जो जागृति, जो जोशोखरोश और जो सौभाग्य-भावना नज़र आती है। ठीक यही हालत कवि-सम्मेलन—या कहना चाहिए कपि-सम्मेलन- में मदन की आँखों के आगे आती है ! वह देखता है--एक, दूसरे को डिफीट देने के लिए जी तोड़ परिश्रम में संलग्न है ! अपनी रचना को 'सर्वोत्तम' का

डिप्लोमा दिलाने के लिए बेचारा तुकबंद, स्वर में महान-परिवर्तन करता है, एक-एक लाइन को दो-दो, तीन-तीन मर्तबा गाता है, जैसे उन पंक्तियों में 'निराला'-जी का दुर्भेद्य, कोष-साध्य छायावाद छिपा बैठा हो ! मुंह पर कभी ख़ुशी की रेखाएं खिंच जाती हैं, कभी संतोष की लाली दौड़ती है ! ऐसा भी मालूम होता है, कि मुंह में मिश्री की डली पड़ी है--उसे चूसता जाता है !

कविता पाठ कर रहे हैं, उनका यह ढंग है। और जिनका नम्बर अभी नहीं आया है, वह बड़ी उधेड़ बुनमें हैं!--खाँस-खाँस कर गला साफ़ करते हैं, कविता के पर्चे को कभी खोलते हैं, कभी मोड़ते हैं, कभी जेब में रखते हैं, कभी निकालने के लिए फिर जेब में हाथ डालते हैं--मगर निकालते नहीं, न पर्चे को न हाथ को! भीतर ही भीतर शायद उसका

मंथन करते हैं ! मुंह पर सुप्त-वेदना-सी झलक रही है--जैसे पेट गुड़गुड़ा रहा हो, सीठा-मीठा दर्द हो !

और जनता दनादन तालियाँ पीटने में अपने फ़र्ज़ की अदायगी समझ रही है ! उसे वास्ता नहीं, कैसी कविता है- या क्या है ?--सुनना सिद्ध ! पधारने का मक़सद यही तो है !

रात के दस बजे खत्म हुई कवियों की नुमायश ! मदन ने चलने की तैयारी की ! उठा, उठ कर एक अँगड़ाई ली ! दालान के बाहर जैसे ही जूते तलाश किए कि होश उड़ने लगे ! कहीं पर नामोनिशाँ नहीं, एक दम गायब !

रोशनी मँगाई, चारों ओर ढूंढ़ा ढकोरा सब बातें की, लेकिन बेकार ! जूते तो शायद पहले ही सटक सीताराम हो चुके थे ! मदन का हृदय भर आया--परसों ही तो बाटा की

दुकान से ख़रीदे थे ! पुराने होते तब भी ख़ैर थी ! अब··· ?

गज-ग्राह के ग्रसने को दूर करने के लिए जैसे नंगे पैरों दामोदर दौड़े थे ! मदन के लिए भी उसी तरह घर पहुँचने के सिवा और कोई चारा न था !

*   *   *   *

टिकट ख़रीदने की दिक़्क़त को पार कर मदन 'टॉकी हाउस' में जा बैठा ! खेल का नाम था—'दुनिया न माने ?' प्रभात-चित्र होने के सबब भीड़ की शुमार न थी ! घनघोर रेला-पेली मची हुई थी ! इलैक्शन के समय पोलिंग स्टेशन पर जैसी अराजकता देखनी नसीब होती है, उससे कम यहाँ पर हो, यह ख़याल न करना चाहिए।

फ़िल्म शुरू होने का टाइम तो हो ही चुका था, पर प्रदर्शक की लालच-बुद्धि उम-

ड़ती हुई भीड़ को देखकर देर करने के लिए मजबूर कर रही थी ! मदन उठा ! एक बार आपरेटर-रूम की ओर प्रतीक्षा-दृष्टि से देखने के बाद फिर बैठ रहा ! मन उकता रहा था, सोचने लगा--'अगर किसी से जान पहिचान होती, कोई दोस्त होता तो यह समय बड़ी आसानी से बात-चीत में बीत सकता ! लेकिन...... .... ?'

एक कड़ुआ-सा घूंट निगल कर बैठ रहा ! बत्तियाँ बुझीं, फ़िल्म स्टार्ट हुआ ! और आप यक़ीन कीजिए—फ़िल्म मदन को इतना पसन्द आया कि जिसकी हद नहीं ! वह अपने आपे को भूलने लगा !

प्रदर्शक की लालच बुद्धि अब भी बदस्तूर काम कर रही थी। सिर्फ़ तरीक़े में ज़रा तब्दीली हो गई ! दर्शक अब भी आ रहे हैं ! गेट-कीपर किवाड़ों की खटापट में मशगूल है !

चवन्नी वालों की चीख उस पर कोई असर नहीं दिखाती! सिनेमा के शौक़ीन सूरदास की तरह, बिल्ली बने, या बनने की चेष्टा करते हुए (मेरा मतलब सिर्फ आँखों तक ही है) उस नरकसे अन्धकार पूर्ण, किन्तु सुन्दराकार भवन में बढ़े आ रहे हैं !

फ़िल्म चल रहा है !

शान्ता-आप्टे अपने रसीले-स्वर में गा रही है, नस-नस में उमंग और अल्हड़ता फूटी पड़ रही है—

'एक था राजा

एक थी रानी......!'

मदन ने टोपी उतार कर रखली हैं, पर जूते खोलके रखने की वेवकूफ़ी नहीं की! नये जो पहन कर आया है!

धम्म !!!

'अरे, मार डाला—जनाब !'

'माफ़ कीजिए अन्धेरे में दीखता नहीं ! क्या मुश्किल है ?'

और वह बराबर की कुर्सी पर जम गये चोट उन्हें भी लगी, दो कुर्सियाँ भी तड़ातड़ उलटीं ! क्षण-भर के लिए, एक सिरेसे दूसरे सिरे तक-'कौन गिरा ?'-की ध्वनि गूँज गई !

जूता अगर न पहना हुआ होता तो मदन के पैर का भर्ता बन जाता, इसमें कोई शक नहीं ! वह तो कहो जूते ने एक बफ़ादार दोस्त की तरह सारी चोट अपनी छाती पर ले ली ! नही क्या होता ? इसकी कल्पना आप कर सकते हैं। फिर भी मदन का पैर 'सुन्न' होने से न बचा ! एक तरह की टीसन उसमें पड़ रही है। वह दोनों हाथों से उसे थामे प्रभात-चित्र के मजे में साझीदार बन रहा है ! एक पैर का जूता उसे खोलना ही पड़ा। लेकिन उसके

लिये उसे शंका नहीं। एक पैर का जूता किसके काम का ? कौन उठायेगा उसे ?

'खेल तो अच्छा मालूम होता है, शुरू हुए कितनी देर हुई-मिस्टर ?'

एक-दम ठीक कान के पास रेडियो-सा बोल उठा ! पहले तो मदन चकराया। बग़ैर सूचना के पोलैण्ड पर हिटलर का हमला जो था ! एक सफल हमला तो अभी ही हो चुका है न? पर, पता चला समीप की कुर्सी वाले सज्जन हैं! पहले तो मन में आया—जवाब ही न दिया जाय, लेकिन फ़ौरन ही अपनी ग़लती महसूस हुई—'क्या जान पहचान बढ़ाने का यही तरीक़ा है ?' निश्चय किया—'दिल खोल कर बातें करनी चाहिये ?' और तब मदन ने जरूरत से ज्यादह स्वर को कोमल बनाते हुए बारीक-आवाज़ में उत्तर दिया—'जी, अभी

ही शुरू हुआ है ! वैस्ट प्ले है--'प्रभात का है न ?'

बात के बढ़ाने-घटाने में मनुष्य को पूरी स्वतन्त्रता मिली हुई है ! आप किसी से बात करना चाहें और उसका उत्तर वह घुर्रा कर दे, बेखटके समझ लीजिये, उसे बोलना अभीष्ट नहीं है ! और अगर उत्तर मीठे-स्वर में, सन्तोष-पूर्ण मिले तो-बग़ैर हिचकिचाहट के प्रश्नों की लड़ी बाँधते जाइये, क्या मजाल जो बातों का सिलसिला बन्द होने का नाम ले !

मदन के साथ भी यही हुआ !

उस अपरिचित दोस्त ने जो मुँह खोला तो बन्द करने का नाम भूल गया ! इसके लिये उसे तथा मदन को भी तीन-चार बार दर्शकों की ओर से काफ़ी हिदायत मिली !

पीछे से आवाज़ आई--'अरे भाई ! ऐसी भी क्या दोस्ती, घर बातें कर लेना ! क्या पैसे

नहीं देने पड़े ?'

मदन सोचने लगा--क्या सचमुच मैं आज दोस्त वाला हूँ ? क्या अब मेरा कलंक मिटने वाला है ?

पर, वह सोचने देता तब तो—बोला मेरा यार !

'दिल साफ़ तेरा है या नहीं, पूछले जो से!'

'यह खूब है, क्यों है न ?'

अन्य दर्शकों की नाराज़ी के डर से मदन ने संक्षेप में कहा--'हाँ !'

और उसी वक्त इण्टरवल ! चाँदना हुआ तो देखा--

पक्के रंग का नौजवान है। कोट पैण्ट है और भीतर अमरीकन-फ़ैशन की कमीज़। सिर पर इने-गिने घुँघराले बालों की मामूली-सी जमात है।

मदन के मन में उठी–'दोस्त तो अपटूडेट है।' फिर श्रद्धा न हो, यह अस्वाभाविक! बेवजह मदन ने सिर घुमाकर पीछे की ओर देखा--लोग उन दोनों की ओर घूर रहे हैं। एक कह रहे हैं--'यही हैं, यार मेरों के मुँह नहीं बन्द रहे! ख़ुदा जानें, जेब काटकर पैसे लाते हैं–या···!

मदन ने मुंह फेर लिया!

फ़िल्म फिर स्टार्ट!!

साढ़े दस बजे दोनों टॉकी-हाउस से बाहर निकले; पुराने, परिचित-मित्रों की तरह। मिनट भर बीच सड़क पर खड़े होकर बातें हुईं। होती तो ज्यादै देर--एक तो दोस्त को जरा अब जल्दी थी, दूसरे मोटर, ताँगे बाइ-सकिलों के कुहराम और आवागमनने बाधा दी।

'नमस्ते!'-दोस्त ने टूथ पाउडर की कृपा से चमचमाते दांतों की भव्य-पंक्ति को मुक्त

करते हुए, हाथ जोड़ते-जोड़ते कहा ।

'नमस्ते, साहब ! नमस्ते !' मदन ने उससे बाज़ी मारते हुए अभिवादन किया !

और दोनों मुख़्तलिफ़ ओर को रवाना हुए !

× × × ×

पैर की चोट मदन के साथ थी वह लँगड़ाता-लँगड़ाता चल रहा था ! सामने हलवाई की दूकान पर कुछ लोग दूध बनवा रहे थे ।

मदन की भी तबियत में आया—'आध सेर दूध पीता चले !'

आर्डर सप्लाई हुआ ! दूध दरअसल अच्छा था'। डबुआ सड़क पर पटक, कुल्ला किया । मुंह पोंछा—और पैसे देने के लिए जेब में हाथ डाला ।

पर यह क्या ?

ग़ज़ब !!!

हाथ एक दम नीचे निकल गया ! न मनी-बेग न जेब की थैली ! मदन की आँखों में अन्धेरा छा गया ! रुँधे गले से निकला— 'नमस्ते !'

\+ \+ \+ \+

मेरी कहानी का नायक मदन अब दोस्तो से दूर भागता है ! वह घरवालों की सुन लेगा, श्रीमतीजी की नाराज़ी भी पचा लेगा, पर जान-पहिचान और दोस्ती के शौक़ को दूर से नमस्ते कर, जैसा है वैसा बना रहेगा ! यह उसकी भीष्म-प्रतिज्ञा है ! ···आज्ञा दें तो कहानी यहीं ख़त्म कर दूँ ?

दो चित्र

नीचे सुख के दो पहलुओं की विभिन्नता का वर्णन दिया जाता है।

रमाकान्त की दो लड़कियाँ हैं—उषा और दिवा! दोनों के व्याह हो चुके हैं। उषा कलाधर को व्याही है और दिवा हलधर को!

कलाधर लखपती आदमी है, और हलधर पन्द्रह रुपये महीने का नौकर! यानी दोनों सगे साढुओं में, दिन और रात की तरह महान अन्तर है। दोनों असमानता के सजीव उदाहरण हैं।

उषा बड़ी है और दिवा छोटी! किस्मत भी दोनों की शायद वय के तद्रूप ही है। बड़ी की बड़ी, छोटी की छोटी! बड़ी का

काम है–आज्ञा देना, समृद्धि की गोद में पड़े रहना और अच्छे-अच्छे कपड़ों तथा जेवरातों से अपने को सजाना, बनाना !

और छोटी, दिवा का–परेशानियों में डूबे रहना, अभावों से लड़ना और रात-दिन सीना-पिरोना, कूटना-पीसना और गृहस्थी के काम-धन्धे ! इने-गिने कपड़े हैं और जेवर तो हैं ही कहाँ ? जो शृङ्गार-बनाव को ओर तवजह करे।

उषा रहती है कलकत्ते में और दिवा, जिला भड़ौच के किसी देहात में ! दोनों के निवास में सैकड़ों कोस का फ़ासला है ! दोनों साढुओं के मन में भी इससे कम फ़ासला नहीं है। ख़तो क़िताबत तक नहीं ! और सच तो यह है कि विवाह-अवसर के बाद से, एक-दूसरे से कोई मिला ही नहीं ! नाता ढिल मिल है, वजह इसकी यह है कि एक नौकर है, दूसरा

नौकर रखने वाला ! फिर नौकर मालिक का नाता कैसा ? ग़रीबी-अमीरी का क्या जोड़ और क्या नाता रिश्ता ?

लेकिन यह ठीक तरह नहीं बताया जा सकता कि उषा और दिवा में कैसी रीति-प्रीति है ?

* * * *

'क्या 'वे' अभी नहीं आए ? आह ! ज़िन्दगी के आख़िरी दिनों में अगर रोज़ एक बार उन्हें देख लेती । लीलो ! सच कहना, क्या आज वे ज़रूर आयेंगे ?'

'हाँ ! हाँ ! कह तो रही हूँ—आयेंगे, आयेंगे ! लौट-फेर कर बार-बार क्यों पूछती हो--उषा रानी ! क्या मैंने कभी झूँठ बोला है-तुमसे ?'

'ओहोह ! रानी ? मैं रानी ! लीलो ! मुझे रानी कहती हो तुम ? मैं रानी नहीं हूँ, मैं सच

कहती हूँ लीलो कि मैं रानी नहीं हूँ !···गला सूखा जा रहा है, पानी दो, पानी·· !'

पानी पी लेने के बाद !

'लीलो ! तुम्हारे पास भी स्त्री-हृदय है ! तुम मेरे मूक-हृदय की, दहकती वेदनाओं की, लिपि को आसानी से पढ़ सकती हो ! पढ़ो और पढ़कर बतलाओ कि क्या मैं सचमुच रानी हूँ !'

'हाँ, हाँ, तुम रानी हो ! मैं तुम्हारी दासी हूँ, टहलनी हूँ ! तुम एक लखपती······!'

'चुप रहो, मुझे पानी पिलाओ !

'आज तुम्हें प्यास ज्यादा है ! सुबह डाक्टर से इसके लिए दवा !'

'दवा नहीं, दुआ चाहिए, किसी रहम दिल से निकली हुई दुआ। जो मेरे मन की आग को शायद बुझा सके, जिसे पानी भी नहीं बुझा पा रहा है ! लीलो, तुम भोली हो, कुछ

समझती नहीं ! मैं कैसे तुम्हें समझाऊँ कि मैं रानी नहीं हूँ !'

'रहने दो मालकिन ! तुम्हारा सिर दुख उठेगा ! लेकिन मैं फिर भी न मान सकूंगी, कि तुम रानी नहीं हो ! मैं प्रत्यक्षवादी हूँ, जो सामने दीखता है, उसे ग़लत कैसे मान सकती हूँ ! .... यह राज महल-सा भवन, ये सुन्दर कपड़े-लत्ते, हीरे-जवाहिरातों के बेश-क़ीमती जेवरात ? और......?'

'और ? और बोलो, रुको मत !'

'और दास दासियों पर हुकूमत, अच्छा खाना-पीना ! क्या रानी में इससे कुछ अधिक होता है ? फिर तुम रानी......!'

'पानी !'

पीने के बाद--

'लीलो ! तुम स्त्री होकर भी नहीं समझतीं कि स्त्री का सुख-जीवन किस के द्वारा बनता

है ? वह रानी कैसे बनती है ? उसका राज्य कहाँ होता है ? कपड़ों पर, जेवर पर, भवन पर ? नहीं, नहीं, प्रेम-पुजारी के हृदय में ! उसकी रसीली चितवन में ! और—'

टन् - टन् - टन् !!!

रात के बारह बजे !

'वह आ गए !'--लीलो ने कहा !

उषा के अशक्त-शरीर ने उठने की व्यर्थ-सी चेष्टा की ! लेकिन लम्बी बीमारी की कमज़ोरी ने वैसा न करने दिया ! लेटी रह गई--वह ! सिर्फ़ नज़र ही उठा सकी !

कलाधर आया ! पैर डगमग, मुंह लाल; और क़रीब-क़रीब बे-होश-सा ! नशे में शराबोर !

'क्या···कि···या···है ! अभी मरी नहीं है ? ?···' आते ही भराये गले से बोला ! फिर कुर्सी पर धम्म से ढेर-सा हो रहा ।

वह बड़बड़ाने लगा—'वह है—अख़्तरीजान! ये, फूहड़, गन्दी, बीमार! परेशानी का निवाला! हः हः हः !!!'

हँसा! खूब हँसा!! इस ज़ोर से हँसा—जैसा भीम से लड़ने के पहले राक्षस हँसा था! और हँसते-ही-हँसते वमन!···उल्टी हो गई! तमाम कपड़े लत्ते लथ-पथ! लीलो सँभालने पहुँचे तब तक, बालू की भीत की तरह, ज़मीन पर! दुर्गन्धित क़ै में!

उषा की के मुंह से एक चीख़ निकल गई!

* * *

दूसरे दिन सुबह—

डाक्टर ने आकर चेतावनी दी—'प्लेग के मरीज़ को आबादी के दर्म्यान रखना कितना ख़तरनाक है, दूसरों के लिये! यह शायद आप नहीं जानते मिस्टर कलाधर! बहतर हो अगर मरीज़ को अस्पताल में भर्ती करादें!'

कलाधर को ज़रा ठेस-सी लगी, इसलिए कि सवाल आकर नाक का जो पड़ता है! लोग कहेंगे—'लखपती की बहू अस्पताल में भर्ती है!'

ब-मुश्किल, इस असमंजस में, एक मिनिट ही बीता, कलाधर के ताम्बूल से आरक्त-ओठों पर एक प्रसन्नता की रेखा-सी डोल गई!

काँसे के फूटे बर्तन की तरह वह बोला—'ठीक है!'

इसके बाद लीलो की ओर मुख़ातिब होकर कहने लगा!···उषा पलंग पर लेटी सब देख सुन रही है! आँखों की कोरों से गरम-गरम आँसू—बत्ती की ओर तेल की तरह—तकिए की तरफ़ बढ़ रहे हैं!

'ए···क्या नाम···बग़ीचे वाले बँगले में इसे पहुँचा दो! सुना···आज ही!'

और कलाधर जाने के लिए आगे बढ़ा-- उस चौखट तक! कि ‥उषा की निर्जीव-वाणी ने उसे लौटाने की बेकार कोशिश की! वह लौटा तो नहीं, रुक जरूर गया--खुशकिस्मती!

बोला--'क्यों ?'

यह स्वर है या हथौड़े की चोट ? ठीक-ठीक न जान सकी! उसका गला और भी रुद्ध हो चला! कड़ा जी कर वह बोली--'बँगले पर मुझे न भेजिये, चाहे अस्पताल--'

'वहाँ क्या है ?'

'वहाँ मैं न बचूंगी, बेहड़, निर्जन, डरावना बँगला--'

'भूत रहते हैं, वहाँ खाजाएँगे-तुझे! क्यों ?'

'मुझे अस्पताल भिजवादो!'

'जहन्नुम में न भिजवाऊँ ?'

जवाब सुनने के पहले कलाधर कमरे से बाहर!

काश ! उषा पति के सवाल का जवाब देकर अपने मन का बोझ हल्का कर सकती !

* * *

ग़रीबों और पैसे वालों के शब्द-कोष में अन्तर होता है। उदाहरण के लिये कलाधर के बग़ीचे वाले बँगले को ले लीजिये ! ईश्वर झूठ न बुलाए तो कहूँगा--अगर यह किसी ग़रीब की मिल्कियत होती, तो उसे 'बेहद के खंडहर, से ज्यादह का नाम न मिलता !

बग़ीचे के नाम पर दो-चार पेड़ हैं, जो अपने अतीत को याद कर खड़े ही खड़े दुबले हुए जा रहे हैं ! ऊबड़ खाबड़ जमीन सूखे पत्तों का ढेर ! और यह सब कुछ है जो किसी भी जगह को डरावना बना सकता है !

इससे मुझे इंकार नहीं, कि किसी जमाने में वह बँगला रहा हो ! अब हाँ ! अब सिर्फ एक कमरा ऐसा बच रहा है, जिसमें एक

चारपाई बिछाने के बाद थोड़ी-सी जगह बच रहे ! अगल-बगल के दालान ईंटों के पँजाए बन गये हैं ! सामने का सहन वर्षा के प्रहारों से फट गया है !

अन्धाधुन्ध चलने से जिसकी दरार में पाँव फँस जाने का पूरा अन्देशा है।

उषा लेटी है ! आँखों से पानी जारी है—मानसिक और शारीरिक दोनों वेदनाएँ उसे सोने नहीं देतीं ।

बँगले में छोटी-सी लालटेन टिमटिमा रही है ! ईंटों के ढेर से झींगुरों और छोटे जीवों की आवाज़ आ रही है ! हवा के झोंके से पत्ते भी कभी खड़खड़ा उठते हैं !

छत से कुछ मिट्टी या पुराने चूने का कुछ रेत-सा गिरा ! शायद कोई जानवर—चिमगादड़—छत के आश्रय में आया हो !

'छत गिरेगी क्या ?'—उषा की नज़र छत की ओर उठ गई—दो-चार-छः ईंटें अपनी जगह से खिसक-सी रही हैं !

वह सरक कर चारपाई की पाटी पर जा पड़ी ! नज़र के ठीक सामने खिड़की थी—अब ! खिड़की के बाहर अन्धेरी रात है ! उसके हृदय-सा ही सूना आकाश ! हवा में एक सनसनाहट है !

'आह !' वह दर्द के मारे कराह उठी...! सहसा उसे लगा जैसे ईंटों में से कोई हँसा, बड़े जोर से हँसा !

'क्या भूत है ? सुना करती थी बँगले में ! जरूर !'—वह स्वयं ही बड़बड़ाई और चीख़ पड़ी—'लीलो SS !'

लीलो जगी ! अभी पानी पिलाकर ही तो आँख लगाई थी उसने ! उषा की चीख़ ने डरा दिया उसे ! दोनों की घिग्घी बँध गई !

···आधी रात की नीरवता भी जगकर खिलखिलाने लगी !

*   *   *

'पानी !···पानी !!'

पानी की तुच्छ-पुकार को हवा उड़ाकर बँगले से बाहर ले गई ! ··

उषा फिर क्षणिक बेहोशी में लीन ! मुख पर पीला पन है ! आँखों में सुर्खी के डोरे। ओठ सूख गये हैं, मुंह में थूक तक नहीं है !

फिर चेत हुआ—'पानी !'

पर वहाँ पानी पिलाये तो कौन ? लीलो तो भूत की घटना के बाद से ही ग़ैरहाज़िर है !···कहार सुबह खाना-पानी रख जाता है !···बँगले की अलमारी में···!

*   *   *

'हः हः हः !'

'अरे वाह ! हँसने की वजह भी तो, या

यों ही ?' -अख्तरी जान ने आँखों की पुतलियाँ नचाते हुये कहा !

'ह: ह: ह: !'--कलाधर हँसने के सिवा यह न बता सका कि शराब का पेग हाथ से छूटकर उसकी क़ीमती साड़ी पर गिर गया है !

दोनों हँसने लगे।

* * *

'पानी ! लीलो···!'—

उषा की तन्द्रा टूटी—देखने लगी विवश-नेत्रों से इधर-उधर !

कहीं कुछ नहीं !

गला चटक रहा है !

उठना चाहा ! प्लेग की गिल्टी ने रोका, --'आह !' लेटे ही लेटे अल्मारी खोली ! सुराही उठाना चाहा, न पहुँच सकी ! ज़रा सरकी, हाथ लम्बा किया--सुराही हाथ में आगई ! लेकिन—

क्या हुआ ?

हाथ काँपा, सुराही फूट गई ! पानी ज़मीन पर फैल गया ! उषा--बेहोश ! × × ×

दूसरे दिन--कलाधर को कहार ने आकर कहा--'बहूजी तो !'

'मरगई ?'--कलाधर ने बात को लपक कर पूछा।

कहार ने सिर झुका लिया !

* * *

[दो]

मौक़े की बात !--

उन्हीं दिनों थीं हलधर की छुट्टियाँ और उन्हीं दिनों लगी नुमायश !

हलधर ने घर में आते ही दिवा को यह सु-संवाद, बड़े गौरव और महत्व के साथ सुनाया !

दिवा खाना बना रही थी, हाथों से ! और मन में खाने से भी सुस्वाद-सरस कल्पना बन रही थी ! बात यह है दिवा ने आज कचौड़ियाँ और तैयार कर रखी हैं ! वह सोच रही है—'वह खाने बैठेंगे, कुछ खाने भी लगेंगे, तब अनायास कचौड़ियाँ परोस दूँगी ! वह चौंक कर कहेंगे--'यह कहाँ से आईं ?'--मैं हँसने लगूंगी ! वे देखेंगे मेरी ओर !'

और उधर !--

एक-एक क़दम पर एक नया संसार बनाता हुआ, हलधर सोचता आरहा है--'इधर दिवा कुछ खिन्न-सी रहने लगी है ! महीनों गुज़र गये सिनेमा भी नहीं दिखाने ले जा सका हूँ ! फ़ुरसत कहाँ ? सप्ताह में एक दिन ! करते-धरते ही रात ! फिर थकावट, दूसरे दिन-ड्यूटी ! बेचारी पर जेवर की तो बात क्या ? धोतियाँ भी ! तो नहीं हैं, ठीक तरह ! जाकर कहूँगा-'नुमाइश

है, नुमाइश ! और उस पर भी मेरी छुट्टियाँ !'
सुनते ही खुश हो जायेगी !'

कब घर आयगा, हलधर को पता ही न लगा !

*　　*　　*

अगर स्वर्ग में बाज़ार लगता हो, तो मैं बेधड़क आपसे सिफ़ारिश करूँगा कि इस 'नुमाइश-गाह' को आप स्वर्ग का बाज़ार कहने में ज़रा भी हिचकिचाहट न कीजिये ! कितनी सजावट और शो का ख्याल रखा गया है कि मुँह से बे-साख़ता—'वाह-वाह !' निकल पड़ती है !

दिवा आनन्द-मग्न बढ़ती चली जा रही है, चार-अंगुल का आर्यसमाजी घूंघट काढ़े हुए। कभी फुट भर पीछे, कभी पति के बराबर ! मुंह पर प्रसन्नता है, आँखों में सारी नुमाइश को एक बार ही में देखने की लालसा ! ···

हलधर का मन मुक्त-कीर की तरह जानें कहाँ कहाँ घूम रहा है ! आज उसका जी इतना ख़ुश है, कि हद नहीं ! कनखियों से कभी दिवा की उत्सुक-आँखों में कुछ पढ़ता है, कभी बगल में दबे हुए धोती जोड़ों की ओर देखता है जो अभी दिवा के लिए ख़रीदे हैं ! रह-रह कर दिवा को नुमाइश की कुछ बातें बताता जाता है !···

'जम्फर के लिये कपड़ा और एक चप्पल दिवा के लिये और लेना है ! क़रीब-क़रीब इतने ही लायक़ दाम भी होंगे—जेब में !···' सोचता हुआ हलधर आगे बढ़ता है ! ··

बिजली-बत्तियाँ जल गईं । गोया बाज़ार की रौनक़ में चार चाँद लग गये ! चारों ओर जगमग । दिवा हक्की-बक्की-सी देखने लगती है ।···

सामने साड़ियों की दूकान पर बेश-क़ीमती लुभावक साड़ियाँ टँगी हैं। सलमे का काम झल-मल कर रहा है। दिवा का मन कैसा तो हो गया है।

'ओ: फ़। कैसी साड़ी है ? ब्लू रंग ! वो इस सिरे पर टँगी है ! जानें कितने की होगी ? अगर इसे ख़रीद सकें...?'

—और उसके मुँह से निकल ही तो गया, मन लुभा जो गया था—'सुनते हो ? उस साड़ी को तो देखना, सामने वाली दूकान पर, सिरे पर जो टँगी है—ब्लू ! कितने की होगी अंदाज से ?'

हलधर कुछ आगे था ! दिवा ने पुकारा तो थम गया ! एक नजर साड़ी की ओर देखा—निहायत बेहतरीन ! फिर दिवा के ललचाये हुये मुंह की तरफ़ ! वह मंत्र-मुग्ध-सी साड़ी देख रही है !

पूछा--'क्या साड़ी बहुत पसन्द आई है?'

दिवा ने सम्मति-सूचक सिर हिला दिया !

हलधर की ख़ुशी पानी बन चली !

कुछ संकोच-सा महसूस करने लगा वह ! यह पहला मौक़ा है, जब दिवा ने कुछ फ़र्मायश पेश की है ! स्त्री को एक तुच्छ और प्रथम माँग को टालने की सामर्थ्य शायद उसमें नहीं ही है !

'आइये न, बाबू जी ! देखिये--कैसे फ़ैन्सी-फ़ैन्सी माल खुले हैं !'

हलधर कुछ सोचे, इसके पहले ही दूकान-दार ने उसे टोका ! वहाँ खड़ा रहना भी दूभर ! अनायास वह दूकान की ओर बढ़ चला ! दिवा भी चली !

दिवा का मन ख़ुशी से फूल रहा है, और हलधर का मुसीबत से धक्-धक् कर रहा है ! बगल के जोड़े ज़रा सरका कर हलधर ने जेब

में हाथ डाल कर, भीतर ही भीतर दाम गिने 'तीन रुपए, साढ़े सात आने !'

'ये साड़ी तो दिखाइये जरा !'

साड़ी दिखाई गई ! पसन्द—हलधर को और हलधर से ज्यादा दिवा को ! अब···? हलधर के मुंह में शायद सूखा पड़ रहा है ! ओठों को जीभ से तर करते हुए बोला-- 'दाम ?'

'जी' इसके अट्ठारह रुपये ?' दूकानदार ने कहकर ऐसी शकल बना ली जैसे बहुत ही कम कह दिए हों !

'ठीक दाम क्या होंगे ?'

'इसमें भी ठीक ! अजी बाबू जी पच्चीस-पच्चीस में बिक गई हैं, यही साड़ियाँ, यह तो कहो कि--!'

हलधर बगैर बोले-चाले उठा, चार क़दम खिसका भी ! अनमनी-सी दिवा भी चली,

पीछे पीछे ! कि दूकानदार चिल्लाया--'सुनिये तो, सोलह रुपए दीजियेगा इस वक्त !'

हलधर ने सुना तो, पर अनसुना कर बढ़ता ही गया, रुका नहीं ! इस वक्त सोलह को तो चली क्या, पाँच रुपये में भी नहीं ख़रीद सकता !

रात के साढ़े-नौ तक नुमाइश की सैर होती रही ! लेकिन दिवा की तबियत फिर ज़रा भी न लगी ! इस बीच तीन बार उसने कहा--'अब चलो न ?'

आज के प्रोग्राम में सैकिण्ड-शो सिनेमा भी था ! मगर दिवा की खिन्नता ने उसे पूरा न होने दिया, हलधर के मन में भी गहरा अफ़सोस है !

दस बजे दोनों घर आकर चुप, लेट रहे ! दोनों का चित्त विचलित ! पर दोनों में अजीब अन्तर !

दूसरे दिन हलधर जब बाजार से लौटकर घर आया तो मुंह पर खुशी झलक रही थी! आते ही बेतकुल्लफी के साथ बोला—'अरे, अभी कपड़े भी नहीं बदले! क्या नुमाइश नहीं चलना है?'

दिवा उदास है! भीतर एक कसक-सी चुभ रही है—कल से! पति से नाराज तो नहीं है, पर अपने जीवन से थोड़ी विरक्त जरूर है! अनमने ढंग से, धीरे से बोली—'नहीं, तबियत कुछ भारी-सा है, आज मैं न जाऊँगी! तुम चले जाओ!'

'हूँऊँ!'—और हलधर मुस्कराता हुआ बोला—'मैं अकेला?'

'क्या हुआ?'

'कभी कहीं गया हूँ या आज ही? कब-कब सिनेमा, मेला, तमाशा अकेला देखा है?'

'मेरी तबियत जो आज ठीक नहीं है?' ..

'तबियत ठीक करने के लिए ही तो मेला वग़ैरह देखे जाते हैं ! तुम नहीं चलोगी तो मैं भी नहीं जाऊँगा !

'मेरी तबियत तो मेला देख कर और ख़राब हो जाती है ! तुम जाओ न ?'

'हरगिज़ नहीं !'

'तो······ ?'

'तो, वो, कुछ नहीं ! तुम्हें आज चलना ही पड़ेगा--मेरी क़सम है तुम्हें ! तबियत बदल न जाए तो कहना कि--चलो कपड़े बदलो--चटपट !'

* * *

दिवा सुस्त है ! नुमाइश में है, महज़ पति की क़सम उतारने के लिए ! हलधर के पीछे अटपटे पैर रखती चली जा रही है ! उसे नुमाइश नहीं देखनी, सिर्फ़ पति के पीछे-पीछे चलना है !·····

हलधर रुका ? दुकान के नीचे पड़ी हुई

कुर्सी पर बैठ भी गया ! दिवा ने नज़र उठा कर देखा तो चौंक पड़ी !--

'यह क्या' वही साड़ियों वाली दूकान ! 'ये' कर क्या रहे हैं ?'

'वह कल वाली साड़ी तो निकालिए--ब्लू रंग की !'--हलधर ने जमे-स्वर में दूकानदार से कहा !

साड़ी सामने आगई !

'बँधवा दीजिए इसे काग़ज़ में !'--जेब में हाथ डालता हुआ, हलधर बोला !

दिवा चुप !

एक दम सन्नाटे में !!

उसने सटकर ज़रा हलधर का हाथ दबाया !

पर हलधर ने उस पर न कुछ ध्यान दिया न उसकी ओर देखा ही ! रुपये दे, उठ खड़ा

हुआ--साड़ी का पैकट लेकर! और चल दिया!

* * *

दिवा ने वही ब्लू-साड़ी पहन रखी है! शृङ्गार-बनाव भी जी लगाकर किया है! इन्तज़ार है कि 'वे' आयें तो ज़रा चुहल हो! यों आइना बार-बार बता रहा है कि दिवा आज बड़ी सुन्दर जच रही है। पर 'उनके' मुँह से कुछ बात ही और है! उसमें जो स्वाद है, वह आईने में कहाँ?

हलधर भी वक्त ही पर आ पहुँचा! दिवा को देखा तो दंग! अच कचाकर बोला--'अल्लाह! ये बात? गोया आस्मान से 'परी' उतर आई!

दिवा ने लजीली दुल्हन की तरह हलधर की गर्दन में अपनी मृणाल-सी बाहें डालते हुए कहा--'हटो!'

'नहीं, बेशक !'—हलधर ने खुशी में डूबते उतराते हुए कहा ! वह सोच रहा है—'साड़ी पहन कर दिवा ऐसी लगती है, जैसे रानी हो !'

'हँसी नहीं, सच कहो—साड़ी कैसी लगती है ?,—दिवा ने पूछा !

'क्या बताऊँ—!'—कहते-कहते हलधर अखण्ड-आलिंगन को उद्यत हुआ, कि दिवा ने कोट की जेब पर संकेत करते हुए जरा हटकर कहा—'फाउण्टेन-पैन' कहाँ गिरा आए ··'

'क़लम···!' हलधर मुस्कराया ! पिछले इतवार ही तो साढ़े-सत्रह का खरीदा था ! खो गया क्या ? दिवा के मुँह पर घबराहट आ रही है ! मगर हलधर हँस रहा है ! क्यों ? फाउण्टेन पैन कहाँ गया ? यह, वह दिवा को कैसे बताये ?

अभिनय

ड्रामा हो रहा था--'भीष्म!'

भीष्म का पार्ट कर रहा था--अनिल! हजारों दर्शक स्वाँग की तरह-एकटक--खड़े देख रहे थे। कुछ बैठे भी थे, वे शायद कुछ विशिष्ट थे! प्रवेश फ्री था, लेकिन फिर भी शोर-गुल ज्यादा नहीं था! क्यों? कि रंग जम रहा था! लोगों को मजा आ रहा था! भीष्म की पितृ-भक्ति लोगों के मन में घर करती जा रही थी! वे श्रद्धा की नजरों से भीष्म की ओर देख-देख कर मुग्ध हो रहे थे, उसके अभिनय पर! पर, इसे भूलते जा रहे थे कि वह 'भीष्म' नहीं है! एक अभिनेता है!...

महाराज शान्तनु कर रहे थे--'प्यारे पुत्र!

तुमने मेरे लिए ब्रह्मचर्य-व्रत जैसा कठोर प्रण ग्रहण किया है ?'

भीष्म ने नत-मस्तक होकर कहा—'हाँ! पिता की प्रसन्नता ही मेरी प्रसन्नता है ! मैं इन चरणों में अपने शरीर तक को बलि दे सकता हूँ! जानता हूँ-वह भी मेरी कर्तव्य-सीमा के भीतर ही है !'

शान्तनु का हृदय भर आता है। वह रुँधे कण्ठ से कहते हैं--'तुम्हारी इस भीष्म-प्रतिज्ञा और प्रचण्ड स्वार्थ-त्याग ने तुम्हें देवव्रत से भीष्म बना दिया है ! पुत्र ! मैं तुमसे पुत्र को पाकर फूला नहीं समाता !'

भीष्म चरणों में गिर कर कहता है—'पिता को प्रसन्न रखना ही पुत्र का धर्म है !'

दर्शकों के मुँह से एक साथ निकला—'धन्य !'

करतल-ध्वनि !!!

थर्डएड स्टूडेन्ट की तरह ज़रा तीखे-स्वर में बोला—

'क्यों, क्या हुआ ? खैर तो है !'

वह बोले—'अब खैर नहीं दीख रही—बेटा ! सुबह होते होते तक मैं खतम···!' खाँसी बीच में कूद पड़ती है !

'हुः ! यों दो वर्ष से रोज ही रात को मरते हो, पर, मर एक दिन भी न पाए। अरे, तुम्हारा मरना सहज थोड़ो है। कम-से-कम एक को साथ लेकर मरोगे !' और वह बहू को चलने का इशारा करता हुआ, आगे बढ़ा !

बूढ़े ने जैसे ममता सागर में डूब कर कहा—'अनिल ! बूढ़े पिता से मरते वक्त तो ज़रा मिठास से बोल ! तेरी रुखाई मुझे खाँसी से भी ज़्यादे तकलीफ देती है—बेटा ! घड़ी-भर मेरे पास बैठ जा। मुझे बड़ा सुख मिलेगा, बड़ी प्रसन्नता मिलेगी, बस घड़ी भर !

(खाँसने के बाद) 'वह' मर गई--अपनी निशानी छोड़ गई ! आज अगर 'वह' होती ! तेरी माँ कह गई थी—बेटा ! मेरे अनिल को प्यार से रखना !......'

'तुम्हारी पाटी से बैठा रहूँ-क्यों ? रतजगा करना है, न मुझे ? पता है--क्या बजा है-इस वक्त ?—तीन ! मेरे सोने का भी कुछ खयाल है ?...हुहः !!!'

और करीब-करीब नाराज होता हुआ अनिल अपने कमरे में जा सोया ! बहू को भी उसने बुला लिया। सिर जो दुख रहा था, अभिनय के परिश्रम से।

सिर की मालिश करते हुए बहू ने कहा—'दादा जी। कहते थे—'

अनिल झल्लाया—'रहने दे उनकी राम-कहानी ! ··'

× × ×

बूढ़े-महाशय खाँस रहे हैं। सड़क पर ड्रामा देखकर लौटी जनता अनिल के अभिनय की प्रशंसा करती चली जारही है।